

नारीवाद एवं सामाजिक अवमूल्यन का समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. अनिता जैन
सह आचार्य समाज शास्त्र
राजकीय महाविद्यालय, सिरोही

शोध आलेखसार:—

यदि गहनता से दृष्टिपात किया जाए तो हमें ऐसी चार महत्वपूर्ण संरचनात्मक दशाएँ किसी न किसी सीमा तक देखने को मिल सकती हैं जो महिलाओं के विवाह एवं वृत्तिका के सम्बन्ध में परस्पर विरोधाभासी मूल्यों को प्रोत्साहित करती हैं। परिणामस्वरूप कामकाजी महिलाओं और सामाजिक संरचना के बीच एक द्वन्द्वका परिदृश्य चिन्हित होता है। उदाकृत नारीवाद 18 वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में विकसित हुआ। इसी संदर्भ में व्यक्तिवाद तथा महिलाओं की प्रस्थिति व भूमिका से संबंधित विचार विचारकों का ध्यान आकर्षित करने में सफल हुए तथा यह पाया गया कि महिलाओं की पारिवारिक एवं घरेलू जिम्मेदारियों जो उनकी जैविक भूमिकाओं से संबंधित थी, वह मुख्य रूप से महिलाओं की कानूनी व संवैधानिक अधिनस्थ पर आधारित थी।

मुख्य शब्द:— नारीवाद, विवाह, सामाजिक संरचना, अवमूल्यन, कानून, मूल्य

नारीवाद एवं सामाजिक अवमूल्यन का समाजशास्त्रीय अध्ययन

भारतीय समाज में महिलाओं और उनकी आर्थिक भूमिकाओं के प्रति अपनाया जाने वाला दोहरा मापदण्ड। प्रस्तुत अध्ययन की पृष्ठभूमि में यदि गहनता से दृष्टिपात किया जाए तो हमें ऐसी चार महत्वपूर्ण संरचनात्मक दशाएँ किसी न किसी सीमा तक देखने को मिल सकती हैं जो महिलाओं के विवाह एवं वृत्तिका के सम्बन्ध में परस्पर विरोधाभासी मूल्यों को प्रोत्साहित करती हैं। परिणामस्वरूप कामकाजी महिलाओं और सामाजिक संरचना के बीच एक द्वन्द्व का परिदृश्य चित्रित होता है:

1. प्रथम तथ्य तो यह है कि भारत जैसे परम्परागत समाज में धार्मिक और सांस्कृतिक दशाएं आज के दौर में भी महिलाओं की भूमिकाओं और प्रस्थितियों को प्रभावित करती हैं चाहे घर के बाहर हो अथवा घर के भीतर।
2. इस संदर्भ में द्वितीय तथ्य कानूनी सुधारों का है जिसने महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और पारिवारिक क्षेत्रों में समानता प्राप्त करने के अवसरों का मार्ग प्रशस्त किया है।
3. तृतीय स्तर पर हम यह देखते हैं कि पिछले छः दशकों में भारतीय समाज ने आर्थिक आधुनिकीकरण के संदर्भ में अपेक्षित सीमा तक प्रगति की है जिसने श्रम बाजार में महिलाओं की भागीदारी को निरन्तर प्रोत्साहित किया है।
4. अन्त में शिक्षा के क्षेत्र में किया गया सुधार जो महिलाओं की परम्परागत प्रस्थिति एवं भूमिकाओं को परिवर्तित करने में सहायक हो सकता है। इसका प्रभाव भी एक महत्त्वपूर्ण स्तर तक देखा जा सकता है।

महिलाओं के कार्यों के अवमूल्यन पर प्रकाश डालने वाले तीन प्रमुख दृष्टिकोणः—

- (1) उदारकृत नारीवाद
- (2) क्रांतिकारी नारीवाद
- (3) सामाजिक नारीवाद

उदारकृत नारीवाद 18 वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में विकसित हुआ जिसके अन्तर्गत परम्परागत संस्थाओं और विचारों को समय की कसौटी पर खरा साबित करने के लिए तथा उनके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए परीक्षण के लिए खुला छोड़ा गया। इसी संदर्भ में व्यक्तिवाद तथा महिलाओं की प्रस्थिति व भूमिका से संबंधित विचार विचारकों का ध्यान आकर्षित करने में सफल हुए तथा यह पाया गया कि महिलाओं की पारिवारिक एवं घरेलू जिम्मेदारियाँ जो उनकी लैंगिक भूमिकाओं से संबंधित थी, वह मुख्य रूप से महिलाओं की कानूनी व संवैधानिक अधिनस्थता पर आधारित थी। इस विचारधारा के अन्तर्गत यह माना

गया कि इस धारणा से बाहर निकलने के लिए महिलाओं को केवल एक लैंगिक वस्तु न समझकर तार्किकता को मूर्ति के रूप में भी देखा जाए। इस विचारधारा के अन्तर्गत इस बात पर बल दिया गया कि महिलाओं को नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों तथा शैक्षणिक सुविधाओं के माध्यम से सशक्त बनाना चाहिए तथा साथ ही महिलाओं के घरेलू भूमिकाओं को चुनौति नहीं दी गयी। इस विचारधारा का प्रभाव भारतवर्ष में संचालित विभिन्न सामाजिक सुधार आन्दोलनों में देखा जा सकता है जो इस बात पर बल देता है कि सामाजिक सुधारों के माध्यम से ही समाज को उपयुक्त स्तर पर सुधारा जा सकता है।

इसके विपरीत क्रान्तिकारी नारीवाद समाज में महिलाओं के सामाजिक अवमूल्यन को एक अन्य दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार सम्पूर्ण लिंग-आधारित क्रान्ति के बिना समाज की पूर्ण संरचना सम्भव नहीं है। ये विचारक समाज के आधारभूत संगठन को ही चुनौती देते हैं और इसलिए यह मानते हैं कि जब तक समाज में महिलाओं की परम्परागत प्रतिबिम्ब चाहे वह प्रेम, यौन सन्तुष्टि, बच्चों के पालन-पोषण तथा अन्तर्वैयक्तिक संबंधों पर केन्द्रित है तब तक जैविकीय आधारों पर स्त्री और पुरुषों में विभेद होता रहेगा। इसी सन्दर्भ में परिवार व विवाह जैसी संस्थाएँ महिलाओं की सन्तानोत्पत्ति क्रियाओं पर नियन्त्रण करती हैं तथा पितृसनात्मक व्यवस्था को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। अतः जब तक इन दृष्टिकोणों में परिवर्तन न किया जाए तब तक ऐसे समाज की कल्पना दूर की बात है जिसमें हम महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष स्थान दिला सकें तथा इस दृष्टि से आर्थिक क्षेत्र में उनकी वृत्तिका एवं रोजगार के प्रति एक सकारात्मक पहल कर सकें।²

क्रान्तिकारी विचारधारा जो लिंग-आधारित भूमिकाओं की चर्चा करती है वह स्त्री व पुरुष में पूर्ण समानता की बात करता है। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत यह जोर दिया जाता है कि स्त्रियों व पुरुषों के बीच भेदभाव को समाप्त करने के लिए संघर्ष तब तक जारी रहना चाहिए जब तक स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष समानता का अवसर प्राप्त न हो जाए, चाहे वे व्यावसायिक प्रशिक्षण, रोजगार, आय, गृहस्थी चलाने व बच्चों की देखभाल में हो। क्रान्तिकारी विचारक यह सलाह देते हैं कि महिलाएँ अपनी वृत्तिका (कैरियर)

के प्रति जागरूक होकर प्रयास करें। जिसके माध्यम से वे सामाजिक और आर्थिक रूप से पुरुषों से स्वतंत्र हो सकें। इसी के साथ समानता की मुहिम परिवार के अन्दर भी जारी रहनी चाहिए। ज्यादा सही अर्थों में महिलाओं की मुक्ति एवं स्वतन्त्रता मूर्त रूप तब तक नहीं ले सकती जब तक वे दीर्घकालीन वृत्तिका या कैरियर को न अपनाएँ और गृहिणी के आदर्श व विचारधारा को न छोड़ें। इस दृष्टि से इन विचारकों का यह मानना है कि स्त्रियों की दो भूमिकाएँ घर एवं कार्य साथ-साथ पर्याप्त रूप से संचालित कर पाना कठिन कार्य है। ऐसी महिलाएँ उद्देश्यों और भूमिकाओं के परस्पर विरोधी और संघर्षवादी स्थितियों के बीच घिरकर रह जाती हैं। ऐसे में उनका यह भी मानना है कि महिलाएँ, गृहिणी की भूमिका इसलिए करती हैं क्योंकि पुरुष और समाज समान रूप से गृहकार्य, बच्चों के पालन-पोषण व देखभाल के समान रूप से नहीं निभाते।

इसी क्रम में तीसरा उपागम जो महिलाओं के अध्ययन में प्रायः प्रयोग किया जाता है वह है सामाजिक नारीवादी उपागम। यह उपागम मुख्य रूप से मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिया गया है तथा इसकी जड़ उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व में अर्न्तनिहित है जो स्त्री अधीनस्थता को प्रोत्साहित करता है। यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि स्त्रियों द्वारा घर या परिवार में किया गया कार्य केवल उपयोग मूल्य के रूप में देखा जाता है न कि विनियम मूल्य। इसी क्रम में समाजवादी विचारधारा से जुड़े नारी अध्ययन के विचारकों का यह मत है कि समाज में महिलाओं का शोषण या उत्पीड़न उनके गृहकार्य के नकद मूल्य से जुड़ा न होना है। महिलाएँ यद्यपि बच्चों के पालन-पोषण, बच्चों को जन्म देना, व गृहकार्य को करती हैं तथा उनके इन कार्यों को उत्पादक क्रिया-कलाप माना जाता है और इस प्रकार व सामाजिक सम्बन्धों तथा घरेलू श्रम के क्षेत्रों में योगदान करती हैं। परन्तु इसका कोई विनियम मूल्य न होने से वे आर्थिक रूप से सशक्त नहीं हो पाती और पुरुषों के अधीन रहने के लिए बाध्य होती हैं। महिलाओं की दशा एवं प्रस्थिति से संबंधित दो प्रकार के (पैराडाइम) आधारभूत मान्यताएँ पायी जाती हैं।³

पहली मान्यता के अन्तर्गत समानता मूल्यों की बात की जाती है जिसके अन्तर्गत यह धारणा है कि महिलाएँ पुरुषों के समतुल्य हैं। चूँकि स्त्री व पुरुष में संस्थागत विभिन्नताएँ आवश्यक रूप से उनमें असमानता को बढ़ावा देता है तथा लिंग आधारित भूमिकाएँ समाज में एक मान्य परम्परा व मान्यता के रूप में लम्बे समय से पनपने लगती हैं। ऐसे में इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि इस धारणा को बदला जाए और स्त्री व पुरुष में जो जैविकीय एवं शरीर क्रिया पद्धति के विभेदों को छोड़ बाकी सभी क्षेत्रों में समानता की पहल करनी चाहिए। चाहे वे कार्य हों, सामाजिक मूल्य हों या व्यवहार हों। वे किसी लिंग विशेष से न जोड़कर बल्कि स्त्री व पुरुष दोनों के साथ तारतम्यता स्थापित करने में सहायक होने चाहिए।

इसी से जुड़ी द्वितीय आधारभूत मान्यता है जिसमें महिलाओं के मुक्ति की बात की जाती है तथा इसे पुरुष विरोधी भी माना जाता है। ऐसे में महिलाओं की मुक्ति और स्वतन्त्रता से संबंधित नीति व क्रिया-कलाप महिलाओं द्वारा ही तय किये जाने चाहिए। सामाजिक संस्थाएँ जो लिंग विभेद आधारित सामाजिक मूल्य, परम्पराएँ एवं व्यवहार निर्धारित करते हैं, वे स्त्रियों के शोषण का आधार बन जाते हैं। ऐसे में लिंग विभेद आधारित मान्यताओं को तोड़ना चाहिए।

लैंगिक भूमिकाओं के बारे में तीसरे विश्व के नारीवादी दृष्टिकोण

समाज में महिलाओं की प्रस्थिति एवं भूमिकाओं के बारे में हम पश्चिमी विचारों, पूँजीवादी विचारों और समाजवादी विचारों के आधार पर समझने का प्रयास करते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या तीसरी दुनिया के देशों में जो लम्बे समय तक साम्राज्यवादी पूँजीवादी के अधीन रही हैं, महिलाएँ प्रायः सबसे निरीह एवं गरीब वर्ग के रूप में तथा सबसे अधिक शोषित वर्ग के रूप में इन समाजों में अपनी उपस्थिति बनाए हुए थी। ऐसे में जहाँ पश्चिमी देशों में चाहे वे पूँजीवादी या समाजवादी देश हों ओर जहाँ नारियों के मुक्ति की चर्चा आरम्भ हो चुकी थी, वहीं तीसरी दुनिया के देशों में ऐसा कोई सशक्त नारी आन्दोलन या विचारधारा अस्तित्व में नहीं आ पायी। औपनिवेशिक काल में महिलाओं से संबंधित जितने भी आन्दोलन थे वे प्रायः स्वतन्त्रता आन्दोलन तक सीमित रहे।⁴ द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब उपनिवेश राज्य, राष्ट्र-राज्य

के रूप में अस्तित्व में आने लगे ऐसे में महिलाओं की मुक्ति सम्बन्धी जागरूकता बढ़ी। इस प्रकार राज्य, समाज तथा स्वयं महिलाएँ, महिलाओं के शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज उठाने लगीं।

तीसरी दुनिया के देशों में जहाँ महिला और विकास का परस्पर संबंध महिलाओं के अस्तित्व से जुड़ा है वहीं नारीवाद एक ऐसा मुद्दा है जो महिलाओं को मानव के रूप में सम्मान व प्रतिष्ठा दिलाने का प्रयास करता है।⁵ जहाँ तक विकास में महिलाओं की भूमिका सम्बन्धी प्रश्न है वह मुख्य रूप से दो तथ्यों पर जोर देता है।

(अ). पितृसत्तात्मक समाजों में विकास की प्रक्रिया में महिलाओं का एकीकरण हो

(ब) विकास की अवधारणा को पुनः परिभाषित किया जाए, जिसके अन्तर्गत स्त्री व पुरुषों की समान रूप से भागीदारी विकास की प्रक्रिया में तय की जाए तथा महिलाओं को एक महत्त्वपूर्ण मानव संसाधन के रूप में मान्यता दी जाए। इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज में स्त्री पुरुषों को समान अधिकार व अवसर प्रदान किये जाएँ।

इसके विपरीत नारीवाद महिलाओं की प्रत्याशाओं या उम्मीदों को पुनः परिभाषित करता है। तथा महिलाओं की उत्पादक के रूप में भूमिकाओं को अधिक महत्त्व देता है। स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत वर्ष में भी महिलाओं की प्रस्थिति को ऊँचा उठाने के लिए बहुत सारे प्रयास किये गये हैं। साथ ही महिलाएँ स्वयं अपनी समस्याओं के प्रति पहले की तुलना में अधिक जागरूक हुई हैं। परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में महिला संगठनों का उदय हुआ है। जो महिलाओं की समस्याओं के विरुद्ध आवाज उठाते हैं।⁶

इन सबके बावजूद पुरुषों के विचार में अभी भी स्त्रियों से संबंधित परम्परावादी विचार अपना प्रभाव रखते हैं जो महिलाओं को दुविधापूर्ण स्थिति में रहने को बाध्य करते हैं।⁷ रोमिला थापर⁸ के अनुसार नारी मुक्ति अभी भी भारतीय सामाजिक संरचना पर तात्कालिक प्रभाव नहीं रखता है क्योंकि यह अभी भी नगरीय मध्यम-वर्गीय महिलाओं तक ही सीमित है। पश्चिम देशों की भाँति भारतीय नारीवाद पुरुषों के दृष्टिकोण को बदलने में, पुरुषों की आकांक्षाओं, पुरुषों की स्वतन्त्रता व शक्ति को परिवर्तित करने में प्रभावशाली नहीं

रहा है और अभी भी नारीत्व के धारणाओं व मूल रूप से संबंधित मूल्यों को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक है।⁹

प्रस्तुत अध्ययन में जब महिलाओं के विवाह एवं वृत्तिका से संबंधित अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होगा कि महिलाओं के बारे में प्रचलित एवं मान्य दो प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा भी की जाए। जो एक आवश्यक कड़ी के रूप में यह समझाने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर आज 21 वीं शताब्दी के दौर में महिलाओं के बारे में समाज व पुरुषों के दृष्टिकोण किस प्रकार परिवर्तित होते रहे हैं।

सन्दर्भ:-

1. M.S Gore. Urbanization and Family Change. Bombay Popular Prakasan 1968.
2. A.K Srivatsava. Social Class and Family Life in India. Delhi Chugh Publications. 1986.
3. G.N. Ramu. Family and Caste in Urban India. Delhi: Vikas Publishing House 1977.
4. Pratima Asthana, Women's Movement in India: Vikas Publishing House 1974.
5. Samiha Sidhom Peterson, "Women and Development: An Analysis of Four Perspectives," Paper Presented in an interregional seminar on The Incorporation of Women into Development, convened by the United Nations International Research and Training Institute for the Advancement of Women (INSTRAW) in its headquarters in Santo Domingo, Dominican Republic, on 5th Dec., 1983.
6. Nandini Mehta, "Women's Liberation Movements: Chapati Maker to Chappal Phenkar." The Illustrated Weekly of India, Vol.XVII (October 24), 1971, pp. 8-13.
- J.Banerjee, "Four Goals of Women's Lib," The Illustrated Weekly of India. Vol.10C, 2nd (October 24): 1971, pp14-27
7. K.M. Kapadia, Marriage and Family in India, Oxford: Oxford University Press, 1966.

Shakuntala Masani, “Indian Women: Equal in Law-Unequal in Facts”, The Illustrated Weekly of India Vol. XVII, (October 24):1971, pp30-33.

8. Romila Thapar, “Looking Back in History,” In Devika Jain (ed.) Indian Women, New Delhi: Ministry of Information and Broadcasting Government of India 1975.

9. A.R. Wadia, The Ethics of Feminism, London:1923.

